

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत-२५३९ अंक-१९०, वर्ष-१७, जुलाई-२०१३

आसो वदि ७, सोमवार, दि.२३-१०-१९७८, बहिनश्री के वचनामृत-३४१ पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन - १२८

निज चैतन्यपदार्थ के आश्रय से अनंत अद्भुत आत्मिक विभूति प्रगट
होती है। अगाध शक्तिमें से क्या नहीं आता? ॥३४१॥

३४१ बोल है। 'निज चैतन्यपदार्थ के आश्रय से...' चैतन्यपदार्थ तो भगवान भी चैतन्यपदार्थ है परन्तु यहाँ आत्मा निज पदार्थ, जिसे त्रिकाली ज्ञायक कहे, जिसे भूतार्थ कहे, जिसे सत्यार्थ कहे ऐसा जो निजपदार्थ चैतन उसके आश्रयसे, आहा..हा..! कुछ लोगों को भारी पड़ता है इसलिये एकान्त है ऐसा कहकर निषेध कर देते हैं। दया, दान, व्रत, व्यवहार रत्नत्रय से भी हित होवे ऐसा माने तो अनेकान्त कहा जाये, ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! सो तो मिथ्या अनेकान्त है। सम्यक् एकांत तो ऐसा है कि, निज पदार्थ जो पूर्ण आनंद ध्रुव सामान्य परिणाम इसका आश्रय करे। भाषा से क्या कहना? परिणाम उसका आश्रय करे मतलब क्या? परिणाम तो परिणाम है परन्तु परिणाम स्वरूप के प्रति झुके तब उसका आश्रय हुआ कहा जाये, ऐसा है।

मुमुक्षु :- आश्रय लेना...

पूज्य गुरुदेवश्री :- आश्रय कौन देवे? आश्रय कहाँ मिलना था उधर? भाषा तो इसकी कैसे करे? 'भूदत्थमस्सिदो खलु' ऐसी भाषा है। ११वीं गाथा। भूतार्थ के आश्रय से मतलब परिणाम जो परसन्मुख झुके हुए हैं सो परिणाम तो वहाँ रहे। बाद में जो परिणाम उत्पन्न हुए उन परिणामों को स्व में झुका। आहा..हा..! भाषा क्या करे इसकी? समय तो एक ही है। कथन क्या करे? आहा..हा..!

इस भगवान को पकड़ना माने क्या? परिणाम जो इस तरफ झुके है, पर्याय पर्याय के प्रति रुचियुक्त है, पर्याय राग के प्रति रुचिवंत है, वह पर्याय तो वहाँ की वहाँ रही। आहा..हा..! परन्तु बाद में उत्पन्न परिणामों को (इस ओर झुका)। सूक्ष्म बात है, बापू! लोगों को एकांत लगता है, वे लोग हल्ला करते हैं। अखबार में लिखा है। 'बुलंदशहर' में पूरे शहर में हल्ला मचा (है कि) जितने भी यहाँ से प्रकाशित शास्त्र हैं उसे मंदिरजीमें से निकाल दिया जायें, निकाल दिया। अरे! प्रभु! क्या करते हो? बापू! भाई! भगवान का यह फरमान है। सुबह नहीं आया? कि शुभभाव है वह अजीव है, भाई! वह जीव की जाति नहीं है। शुभभाव। आहा..हा..! वह अजीव है। यानी? चैतन्यस्वभाव का स्वरूप उसमें नहीं है। आहा..हा..! इसलिये भगवान इसे अजीव कहते हैं। आहा..हा..! जबकि चेतनपदार्थ जो त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप उसके आश्रयसे... आहा..हा..! सम्यग्दर्शन, ज्ञान, शांति 'अनंत



अद्भुत आत्मिक विभूति प्रगट होती है।' आहा..हा.. !

जिसके संग्रह में गृहित, संगृहित अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शांति और चारित्र नाम वीतरागता, ऐसा जो भगवान चैतन्य पदार्थ का स्वभाव, उसका आश्रय लेने से यानी कि परिणति को अंतर्मुख करने से... आहा..हा.. ! कल कहा नहीं था ? 'श्रीमद्' में से कल कहा था। 'मूळ मारग सांभळो जिननो रे करी वृत्ति अखण्ड सन्मुख' करी वृत्ति, वृत्ति नाम परिणति। अखण्ड नाम द्रव्यस्वरूप अखण्ड वस्तु। 'करी वृत्ति अखण्ड सन्मुख मूळ मारग सांभळो जिननो रे।' बापू! मार्ग तो ऐसा है। आहा..हा.. ! 'छे देहादि थी भिन्न आत्मा रे, देहादि माने देह, कर्म, पुण्य और पाप के भाव 'इससे भिन्न आत्मा रे, उपयोगी सदा अविनाश' सो तो ज्ञान-दर्शन के उपयोगवाला तत्त्व है, प्रभु! चेतन पदार्थ कहो या उपयोग स्वरूप कहो। त्रिकाल है! आहा..हा.. ! 'उपयोगी सदा अविनाश' अविनाश है, सो तो ध्रुव है। 'मूळ मारग सांभळो जिननो रे' यह मार्ग है। आहा..हा.. ! इन शब्दों में यह सरल भाषा में कह दिया। आहा..हा.. !

निज चेतनपदार्थ अर्थात् पर भगवान पदार्थ नहीं। आहा..हा.. ! निज भूतार्थ पदार्थ। प्रमत्त-अप्रमत्त दशा रहित जो ज्ञायकभाव। आहा..हा.. ! ऐसा जो निज चैतन्यपदार्थ। आहा..हा.. ! इनके 'आश्रय से अनन्त अद्भुत आत्मिक विभूति...' आहा..हा.. ! पर्याय में अनन्त - जितने भी गुण हैं, अद्भुत स्वभाव सामर्थ्य से भरे, उसका आश्रय करने से तेरी पर्याय में प्रभु! तुझे अनन्त विभूतियां प्रगट होगी। आहा..हा.. ! क्योंकि जितने भी गुण है उन सब गुणोंका एकरूप वस्तु चैतन्यपदार्थ उसका आश्रय करने पर परिणाम को द्रव्य की भेट होनेपर। आहा..हा.. ! भगवान में जो अनन्त विभूतियां भरी हैं उन अनन्त विभूतियों, अद्भुत आत्मिक विभूति, देखा ? ये धूल तेरे रूपये करोड़ या दो करोड़ धूल मिट्टी के पिण्ड वह (विभूति) नहीं। आहा..हा.. ! क्या कहा ?

मुमुक्षु :- जवाहरात हो तो भी मिट्टी के ?

पूज्य गुरुदेवश्री :- जवाहरात क्या बड़ा हीरा

करोड़ का नहीं होता है ? दस करोड़ का नहीं था ? (अपने मुमुक्षु के) मामाजी 'सरदारशहर' में दस करोड़ उस जमाने में थे। उन दिनों में हैं ! फिलहाल तो इसकी कीमत बढ़ गई। कितने करोड़ के हीरे भरे थे त्रिजोरीमें ? (अपने मुमुक्षु) हैं उनके मामा। दस करोड़ की कीमत तो उस जमाने में थी, ये तो ५० साल पहले की बात अभी तो इसकी कीमत बढ़ गई। आहा..हा.. ! ढेर सारे हीरे। आहा..हा.. ! कीन्तु वे जब कपड़े सिलवाते तब सिलनेवाले के पास जो डोरी को क्या कहते हैं ? रील। वह डोरी खत्म होने के बात जो खाली रील बचती थी उसे खुद ले आते। आहा..हा.. ! दवाई की बोटल दवाई खत्म होने के बाद खाली बोटल को बेचने जाये। भले ही आदमी को भेजेंगे अगर खुद न जाये तो। अरे..रे.. ! प्रभु! क्या करते हो तुम ? ये भी कोई दूसरा बता रहा था हैं ! यानी कि हमारा तो सुना हुआ है।

मुमुक्षु :- पैसा मेरा परमेश्वर ऐसा मान जो रखा है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री :- अर..र..र.. ! बापू! परमेश्वर तो चैतन्य पदार्थ भगवान पूर्ण परमेश्वर (है) नहीं आता ? ३८ वीं गाथा में नहीं आया ? मेरे परमेश्वर को मैं भूल गया। ३८वीं गाथा में आता है। आहा..हा.. ! परम ईश्वर, परम शक्तियों का भण्डार सागर नाथ आत्मा। आहा..हा.. ! अरे ! बाल-गोपाल, बालक चाहे तो आठ वर्ष की कन्या हो परन्तु, जिसने इस अद्भुत निज पदार्थ का आश्रय किया उनको.. भाषा है न ? 'सर्व गुणांश वह समकित' इसका अर्थ यों कि, अनन्त विभूति अद्भुत प्रगट होगी, भाई ! आहा..हा.. ! दूसरा कोई उपाय नहीं है। आहा..हा.. !

शास्त्र में कहीं पर ऐसा आया हो कि, कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड होता है। 'प्रवचनसार' में आता है, आखिर में। कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड होता है। सो तो निमित्त का ज्ञान कराया, भाई ! ऐसे कर्मकाण्ड तो अनन्तबार किये फिर भी क्यों नहीं हुआ ? आहा..हा.. ! यहाँ तो कर्मकाण्ड जो है सो तो अजीब है, ऐसा कहा भगवानने तो। आहा..हा.. ! ये व्रत,

तप और ऐसे-ऐसे जितने भी विकल्प उठते हैं प्रभु! सो तो आस्रवतत्त्व में कहा है न प्रभुने। सो तो पुण्यास्रव है। आहा..हा..! उससे स्वभाव का आश्रय हो सकता है क्या? जिससे भिन्न होना है उसके आश्रय से अंदर में जा सकेगा क्या? आहा..हा..!

यहाँ कहते हैं, निजपदार्थ चैतन्यपदार्थ। निजपदार्थ है कौन? कि, चेतनपदार्थ है वह। आहा..हा..! जागृत स्वभाव स्वरूप पदार्थ है वह। केवल उपयोग ज्ञायकभाव उसमें अविनाभावी अनन्तगुण भले ही हो। आहा..हा..! ऐसा चैतन्य पदार्थ निज, उसके आश्रय से... आहा..हा..! भगवान नोंवी, दसवीं, ग्यारहवीं में ऐसा कहा, छठी में ये कहा और एक सो छप्पन में ऐसा कहा। **‘विद्वजनों भूतार्थ त्यज के व्यवहार में वर्तन करे, पर कर्मक्षय का विधान तो...’** कर्मक्षय तो निज आत्मा के आश्रय से होता है। आहा..हा..! परमार्थ आश्रित संत को... ऐसा है न शब्द? **‘पर कर्मक्षय का विधान तो परमार्थ-आश्रित संतका।’** भगवान परमानंद का नाथ पूर्ण स्वरूप उसके आश्रय से मुक्ति होती है। उसके ही आश्रय से मार्ग मिलता है और उसीके आश्रय से मुक्ति होती है। आहा..हा..! भगवान की ऐसी पुकार है जिसे आप एकांत कहते हो! प्रभु! आहा..हा..! धर्म को कलंक लगता है, प्रभु! आहा..हा..!

यहाँ तो भगवान पुर्णानंद है उसका आश्रय छोड़कर राग के आश्रय से लाभ मनवाये, प्रभु! वह कलंक है। आहा..हा..! वह परमपदार्थ महाप्रभु! इसका अनादर करने जैसा है, भाई! आहा..हा..! वीतराग स्वरूप से भरा निज पदार्थ उसको ये राग के आश्रय से लाभ हो? आहा..हा..! भगवान भीख माँगने चला, आहा..हा..! राग की भीख माँगे कि, मुझे राग हो, राग मुझे हो, इससे मेरा कल्याण होगा। अरे! प्रभु! आहा..हा..! ये सब भिखारापन छोड़ दे। आहा..हा..!

निज चेतनपदार्थ भगवान पूर्ण ज्ञायकभाव, भूतार्थ भाव, सत्यार्थ भाव, त्रिकालभाव, ध्रुवभाव, सामान्यभाव, एकरूपभाव सदृश्यरूपभाव। आहा..हा..! उसके आश्रयसे अनन्त अद्भुत पर्याय में शक्तिमें

से व्यक्तता (होती है)। शक्तिवंत निजपदार्थ का जिसने आश्रय लिया। आहा..हा..! उसकी वर्तमान पर्यायदशामें अनंत अद्भुत विभूति प्रगट होती है। आहा..हा..! अनन्त आत्मिक विभूति इतने शब्द पड़े है न? अनंत अद्भुत आत्मिक विभूति। आहा..हा..!

तुझे क्या करना है? प्रभु! और क्या करना है? और तो सबकुछ किया तुने। सबकुछ नाम? शुभाशुभ भाव अनंतबार किये, भाई! इसमें कोई हाथ न लगा भगवान। क्योंकि वह उसमें है नहीं, शुभ-अशुभभाव स्वरूप में है नहीं। वह तो चैतन्यपदार्थ है। ज्ञान जीवंत, जीवंत ज्योति प्रज्वलित है अंदर में। आहा..हा..! उसके आश्रय से भगवंत! तेरे निजपदार्थ के आश्रय से। आहा..हा..! अनंत अद्भुत (आत्मिक विभूति प्रगट होती है)। क्योंकि वस्तु जो है वह अनंत शक्ति का भण्डार है। उसका आश्रय लेने से ‘अनंत अद्भुत आत्मिक विभूति प्रगट होती है।’ आहा..हा..! एक पंक्ति है लेकिन गजब है आहा..हा..!

बारह अंग में भी ऐसा कहा। आया है न कलश में? बारह अंग कोई अपूर्व नहीं कहलाता। आहा..हा..! परन्तु उसमें अनुभूति कही है भगवानने ऐसा कहा। आहा..हा..! अनुभूति माने? त्रिकाली ज्ञायकभाव का आश्रय लेकर अनुभव करना वह अनुभूति। आहा..हा..! प्रभु! उसे भले ही तू एकांत कहे लेकिन प्रभु वह सम्यक् एकांत है। आहा..हा..! ‘श्रीमद्’ में नहीं आया है एक सूत्र? अनेकांत भी सम्यक् एकांत ऐसे निजपद की प्राप्ति के अलावा दूसरे प्रकार से उपकारी नहीं है। ऐसा उन्होंने भी कहा है।

अनेकान्त भी द्रव्य और पर्याय दो अनेक हैं, अनेकांत है, अनेक धर्म है। उसमें भी त्रिकाली स्वभाव का आश्रय वह सम्यक् एकांत। आहा..हा..! इसके अलावा निजपद की प्राप्ति का अन्य कोई हेतु नहीं है, प्रभु! आहा..हा..! निज प्रभुता का माहात्म्य न आये और राग की क्रिया का माहात्म्य रहा करे, प्रभु! सो तो अजीव का माहात्म्य है, भाई! आहा..हा..! निजपदार्थ के आश्रय, से चैतन्य निजपदार्थ के आश्रय से, चैतन्य पदार्थ के अवलंबन

से। आहा..हा.. !

ऊपर चढ़ना हो तो यूँ डोरी का अवलंबन लेते हैं न? वैसे भगवान को अंतर में ऊर्ध्वदशा में जाना हो तो आत्मा का अवलंबन लेना पड़े उसे। आहा..हा.. ! फिर ऊपर जायेगा जो नीचे है वह। राग की क्रिया में एकत्व है न? प्रभु! वह तू नीचे हो, प्रभु! उसे ऊर्ध्वदशा में जाना हो तो द्रव्य को, द्रव्य का अवलंबन लेना पड़ेगा। आहा..हा.. ! ऐसी बात है। साधारण मनुष्य को सुनने में भी कठिन लगे इसलिये दूसरा रास्ता पकड़ लिया। भाई! ऐसा रास्ता दूसरा नहीं है। आहा..हा.. !

सिर पर मोत के नगारे बजते हैं, नाथ! कब पूर्ण हो जायेगा? आहा..हा.. ! देखो न! क्षणभर में कुछ का कुछ हो जाता है। ये (मुमुक्षु को) अभी पीड़ा (है)। कल से वहाँ ले गये हैं, आये थे कल। देखा। मैं थोड़ा झुका। श्वास तो चल रहे थे परन्तु अंतर में कोई घबराहट होगी। ये सारा हड्डियों का मेला, मांस का ढेर इसमें फिर कहीं खून का दबाव बढ़ जाये किन्तु अंतर में भगवान तो भिन्न है आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- भगवान उलझ गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह जो उलझ गया है वह अपना मानकर उलझ गया है। वस्तु में उलझन नहीं है, मिथ्यात्वभाव है वह वस्तु में नहीं है। आहा..हा.. ! वह कहाँ आया नहीं सुबह के (व्याख्यान में)? राग की एकताबुद्धिरूप अध्यवसान वह मिथ्यात्व है। वह अजीव है। भगवानस्वरूप में वह है नहीं। आहा..हा.. ! मिथ्यादृष्टिरूप मिथ्या शल्य वह भगवान स्वरूप में है नहीं। आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- द्रव्य के स्वरूप में नहीं है?

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह तो पर्याय के लक्ष से, निमित्त के लक्ष से पर्यायमें पर्याय के भाव से उत्पन्न हुआ, गुण भाव से नहीं! आहा..हा.. ! भगवान में अनंतगुण है, प्रभु में तो। किसी गुण के अवलंबन से मिथ्यात्व थोड़ी होता है? वस्तु में ही नहीं है वहाँ! आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- एक गुण का अवलंबन ले तो राग

होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- सो तो भेद करे तो। एक गुण का कारण तो ऐसा कहा है। 'प्रवचनसार'में असाधारण ज्ञानकारण को ग्रहण करके। आहा..हा.. ! पाठ तो ऐसा आता है वहाँ, 'प्रवचनसार' प्रथम (अधिकार)। असाधारण कारण ज्ञानस्वरूप भगवानआत्मा, जो अन्य में नहीं है, जो दूसरा ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु :- ज्ञान कहकर द्रव्य कहना चाहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह ज्ञान मतलब ही पूरा आत्मा। क्योंकि, जाननेवाला ज्ञान है, अन्य गुण जानते नहीं है। अपना अस्तित्व धारण किये हुए है, अन्य गुण अपना अस्तित्व तो धराते हैं परन्तु वे स्वयं अपनेआप को भी नहीं जानते। आहा..हा.. ! अतः यह ज्ञानगुण ही सब को जानता है। स्वयं को अनन्त द्रव्यों को, अपने अनन्त गुणों को, अनन्त पर्यायों को और वर्तमान अपनी पर्याय को भी (जानता है) भिन्न-भिन्न जो अस्तित्व है, उसकी पर्यायें अपने आप को नहीं जानती। आहा..हा.. !

ऐसी जो ज्ञान की पर्याय ज्ञायकभाव के अवलंबन से जो होती है, वह पर्याय स्वयं स्वतंत्र अनन्त गुणोंसे भिन्न है। और वास्तव में तो वह पर्याय जो है वह श्रद्धा की पर्याय के कारण सम्यक् पर्याय हुई सो बात भी नहीं है। आहा..हा.. ! प्रत्येक गुण की पर्याय स्वतंत्र अपने से होती है। आहा..हा.. ! प्रत्येक गुण की पर्याय स्वतंत्र अपने से होती है। आहा..हा.. ! अरेरे.. ! इस निज द्रव्य के आश्रय से जो अनन्त विभूति में ज्ञानपर्याय प्रगट हुई, स्व को पकड़ने की जो पर्याय, वह पर्याय भी निश्चय से तो षट्कारक के कारणों से परिणमन करके प्रगट हुई है। आहा..हा.. ! आश्रय भले ही इस तरफ से किया, परन्तु वह प्रगट हुई है वह षट्कारक से स्वयं प्रगट हुई है। यह पर्याय कर्ता, पर्याय कार्य, पर्याय कारण, वही पर्याय संप्रदान, वही पर्याय अपादान, वही पर्याय अधिकरण। आहा..हा.. ! ऐसी बात है। क्योंकि, द्रव्य है वह तो ध्रुव कुटस्थ है, अपरिणामी है। आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- ऐसा तो श्वेताम्बर में लिखा ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री :- श्वेतांबर में (तत्त्व) कहाँ है? उन लोगों को बेचारों को बुरा लगे, हं! परन्तु वह वस्तु नहीं है, भाई! ये तो दिगम्बर संत यानी कि केवलियों के 'केडायतो' (उनकी राह पर चलनेवाले) आहा..हा..! अरे भाई! यह पक्ष की बात नहीं है, भाई! यह तो वस्तु का स्वभाव ऐसा है। यह दिगम्बर पक्ष ऐसा मानता है, श्वेताम्बर (ऐसा मानता है)। अरे! प्रभु! ऐसा नहीं है। यह वस्तु ही ऐसी है। वीतराग मूर्ति प्रभु! जो है उसके आश्रयसे जो विभूति पर्याय प्रगट होती है वह वीतरागी प्रगट होती है। राग के आश्रय से यह प्रगट होता है, राग से ऐसा होता है, ऐसा वस्तु का स्वभाव नहीं है। आहा..हा..! समझ में आया?

'मोक्षमार्ग' में आया है श्वेताम्बर के विषय में उल्लेख है जहाँ आखिर में? वे लोग शुभ से स्वर्ग भी मानते हैं और शुभ से मोक्ष भी मानते हैं। आखरी शब्द है पाँचवाँ, श्वेताम्बर का आखरी। आखर में बताया है। आहा..हा..! है यहाँ पर? यह 'मोक्षमार्ग' है न? पाँचवाँ। 'तथापि वे व्रतादिरूप शुभ उपयोगसे देवगति का बंध मानते हैं तथा उसीको मोक्षमार्ग मानते हैं।' आहा..हा..! पाँचवाँ अधिकार। कठिन लगे, प्रभु! क्या करे? राग से जो धर्म मानता है वह अन्यमत है वह जैन मत ही नहीं है। आहा..हा..! जैनमत तो वीतरागमूर्ति प्रभु, उस वीतरागी पर्याय से धर्म होता है उसका नाम जैनधर्म और जैन मत है। आहा..हा..! क्या करे? उनलोगों ने तो बंधमार्ग और मोक्षमार्ग को एक कर दिया परन्तु वह मिथ्या है। दुःख लगे। वह भी कहा न? मोक्षमार्ग में ऐसा कौनसा मार्ग है कि, जो अन्य सब को ठीक लगे? क्या करे? भाई! आहा..हा..! प्रभु! तेरी बात भी करुणा से करते हैं, नाथ! तू दुःख लगा कर बैठ जाये यह तुझे शोभा नहीं देता है भाई! आहा..हा..!

भगवान अंदर में परमात्मस्वरूप कृत्कृत्य भगवत् स्वरूप बिराजमान है उसके आश्रयसे लाभ होगा या पर और राग के आश्रय से लाभ होगा?

आहा..हा..! महिमावंत को छोड़कर हीन दशा का अवलंबन किया? आहा..हा..! भगवान महा प्रभु, उसके अवलंबन से 'अनन्त अद्भुत आत्मिक विभूति प्रगट होती है।' आहा..हा..! 'अगाधशक्तिमें से क्या नहीं आता?' आहा..हा..!

मुमुक्षु :- पैसे नहीं आते।

पूज्य गुरुदेवश्री :- राग भी नहीं आता। आहा..हा..! कहीए भाई! ऐसी बात है, प्रभु! भाई! दुनिया को बहुत दुष्कर लगे। यहाँ का साहित्य प्रभु! यहाँ का साहित्य सम्यक् चैतन्य का आश्रय करने की बात करता है। आहा..हा..! चाहे कितनी भी बातें लिखी हो, लाख, करोड़ परन्तु यहाँ का साहित्य अर्थात् प्रभु के आश्रय से उत्पन्न होता है। आहा..हा..! यह स्वरूप भगवान, जिसे ग्यारहवीं गाथा में भूतार्थ कहा, जिसे छठी गाथा में ज्ञायक कहा, जिसे १५६ गाथा ने व्यवहार छोड़कर भूतार्थ कहा। आहा..हा..! प्रभु! यह तुझे भारी पड़े तो भी मार्ग तो ऐसा ही है। आहा..हा..!

धर्मी को शुभभाव में रस नहीं है, शुभभाव होते हैं (किन्तु) रस नहीं होता। फिर अगर कोई अशुभभाव के रस में जुड़ जाये तो उसकी तो दृष्टि ही नहीं रहती। क्या कहा इसमें? शुभभाव भी जहाँ नहीं सुहाता, उसका रस नहीं है। रस तो भगवान का रस है, आहा..हा..! इसमें भी कोई जीव स्वच्छंदी होकर अशुभभाव के रस में चढ़कर मान ले कि, मुझे तो अशुभभाव हो तो भी निर्जरा है। भाई! ऐसा नहीं है। यह तो क्या याद आया? ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु है। भाई! यह क्या कहा? बापू! आहा..हा..! ज्ञानी को जो विकल्प उठते हैं, वे हैं तो दुःखरूप। भोग से निर्जरा? फिर तो भोग के भाव को छोड़ने की बात ही नहीं रहती। वहाँ तो दृष्टि का जोर दिखाकर ज्ञायक चैतन्य महाप्रभु जिनकी दृष्टिमें वर्तता है उसे कोई भाव आया हो लेकिन दृष्टि की अपेक्षा अल्पस्थिति में रस आता है उसे नहीं गिना जाता, ऐसा कहते हैं। परन्तु ऐसे अशुभभाव रसपूर्वक हो जाये, आसक्ति से हो जाये तो तो द्रव्य का आश्रय ही नहीं रहता। आहा..हा..!

समझ में आया? दृष्टि द्रव्य पर से हट जाती है। ज्ञानी को जो अशुभभाव आते हैं उसमें काले नाग जैसा दुःखरूप उनको वह लगता है। आहा..हा..! उसमें उनको रस नहीं होता। उसमें से सुखबुद्धि छूट गई है, भाई! भगवान आनंद का नाथ उसमें सुखबुद्धि जम चूकी है। आहा..हा..!

‘अगाध शक्तिमें से क्या नहीं आता?’ आहा..हा..! भगवान तो अगाध शक्ति का भण्डार पड़ा है न, प्रभु! आहा..हा..! जिनकी सिद्ध की पर्याय की भी महिमा का पार नहीं है। सिद्ध की तो एक समय की पर्याय है ऐसी-ऐसी अनन्त पर्यायों से भरा एक गुण, ऐसे अनन्त गुणों का भण्डार अगाध शक्ति का भण्डार प्रभु है। आहा..हा..! जिसका आश्रय लेने पर उसका अवलंबन लेने से क्या प्रगट नहीं होता? आहा..हा..!

‘भरत’ चक्रवर्ती, जिनका ३२ कवल का

आहार। जिनका एक कवल छियानवे करोड़ का पायदल भी हजम न कर सके ऐसा। ऐसे ३२ कवल का भोजन। एक कवल की कीमत अरबों में। हीरा, मानिक की भस्म बनाकर उसे घी में डाले हो और उसमें गेहूँ डाले हो। ऐसे गेहूँ वे पी जाते हैं, उसकी रोटी बनाये। आहा..हा..! ऐसे ३२ कवल का आहार। आहा..हा..! फिर भी उसका विकल्प रसयुक्त नहीं होता। बत्तीस कवलमें से एक कवल भी छियानवे करोड़ का सैन्य हजम न कर सके ऐसा तो जिनका भोजन। आहा..हा..! फिर भी वह आहार के प्रति का अशुभभाव है, उसमें रस नहीं है। आहा..हा..! समझ में आया? आहा..हा..! ऐसी अगाध शक्ति का नाथ प्रभु! आहा..हा..! इसमें से क्या नहीं आता? ये सवा दो पंक्ति चली। आहा..हा..! ग्यारहवीं और छठी गाथा का सार है यह। आहा..हा..! ३४२ विस्तारवाला है।

(श्रीमद् राजचन्द्र पत्रांक)

कर पाते हैं कि अभी हम देहधारी हैं। नमस्कार हो! परम सत्कार हो! ऐसे आत्मभावको!

ऐसे मस्त आत्मभावके कारण शब्दादिक विषयोंकी वृत्ति उपशांत हो गई है। व्रत, नियम लेनेकी कृत्रिम वृत्ति सहज ही उत्पन्न नहीं होती। अन्य इच्छाओंका प्रमाण अल्प और मंद है, प्रायः कुदरतके क्रमका अनुसरण करते हैं। इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिमें शून्य-मनस्करूप हो चुके हैं। इतना इन्द्रिय विषयरस नीरसताको प्राप्त हो चुका है। शास्त्रवचनके शुभ परिणामोंमें भी चित्त चोंटता नहीं है। नय, प्रमाण और तत्त्वज्ञानके अनेक भेद-प्रभेदोंके विषय ज्ञानमें होने पर भी विस्मरण तुल्य हो चुके हैं। निर्विकल्प आभ्यंतर परिणति में आत्मरस और आत्मजागृतिकी इतनी उग्रता वर्तती है।

उक्त दशाके कारण बाह्यमें मन, वचन, कायाकी प्रवृत्ति मर्यादित हो चुकी है। जो कुछ है उसमें भी सावधानीका अभाव है। खाने-पीने इत्यादि उदयकी क्रियाएं कर्मोदय अनुसार चलती हैं। जिसकी योग्यता-अयोग्यता सम्बन्धित असावधानी है अथवा सर्व प्रकारसे विचित्र ऐसी उदासीनता संप्राप्त होनेसे चाहे जैसे वर्तते हैं।

अंतरमें पूर्णता प्राप्त करनेकी पागलपन जैसी तीव्रता है। लोकव्यवहारको देखते हुए तथारूप पागलपनको गुप्त रखना पड़ता है, इतना संकोच जो होता है उतनी हानि है अर्थात् मोक्षमार्गीको निःसंकोचरूपसे अंतरप्रवृत्तिमें पुरुषार्थपूर्वक प्रवर्तना उचित है। यद्यपि वर्तमान दशाको गौण करके, एक निज परमात्मतत्त्वमें एकतार वृत्तिसे प्रेम-प्रवाह/महिमामें रहते हुए मोक्षकी आकांक्षा भी नहीं रही, ऐसी बलवान द्रव्यदृष्टि विद्यमान है। जब की दूसरी ओर पूर्णताके लक्ष्यसे; अपूर्णदशाके कारण असंतोष भी वर्तता है। और इतना कुछ होने पर भी अपूर्णता भासित हो रही है, इस वजहसे खेद रहता है। उदासीनभावसे व्यापार आदिकी प्रवृत्ति चल रही हैं। इसतरह विचित्रदशाका संक्षेपमें वर्णन किया है और जब तक पूर्णता प्राप्त नहीं होगी तब तक खेद नहीं मिटेगा, ऐसा लगता है। इसमें अपूर्णताका निषेध वर्तता है।



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा
श्रीमद् राजचंद्र पत्रांश-५२८ का वचनामृत
पर हुआ भाववाही प्रवचन, दि.१७-१०-१९९०

५२८.

‘जिन्हें स्वप्न में भी संसारसुख की इच्छा नहीं रही,...’ यह सत्पुरुष की व्याख्या करते हैं। संसार में संसारी संयोग के बीच दिखने के बावजूद संसार के संयोग के बीच होनेपर भी ‘जिन्हें स्वप्न में भी संसारसुख की इच्छा नहीं रही और जिन्हें संसार का स्वरूप संपूर्ण निःसारभूत भासित हुआ है, ऐसे ज्ञानीपुरुष...’ यह ज्ञानीपुरुष की परिभाषा की। ‘संपूर्ण निःसारभूत संसार का स्वरूप जिन्हें भासित हुआ है,...’ पूरे संसार का संक्षेप बता दिया है, कि इसमें कहीं भी सार नहीं है। और स्वप्न में भी इसमें सुख है यह बात जिन्हें स्वप्न में भी नहीं आती। ऐसी जिनकी दशा है।

‘ऐसे ज्ञानीपुरुष भी आत्मावस्था को वारंवार संभाल-संभालकर उदय प्राप्त प्रारब्ध का वेदन करते हैं।’ उन्हें पूर्वकर्म का प्रारब्ध भोगना पड़ता है, वेदन करना पड़ता है इसलिए भोगना पड़ता है। तो भी वे अपनी आत्मावस्था को संभालकर चलते हैं। अंतर में सावधान रहते हैं, जागृत होते हैं। अपनी आत्मजागृति में रहकर वे वर्तमान प्रारब्ध को भोगते हैं। आत्मजागृति खोकर प्रारब्ध को नहीं भोगते। ‘ऐसे ज्ञानीपुरुष भी आत्मावस्था को वारंवार संभाल-संभालकर...’ बहुत सावधानी से रखते हैं ऐसा कहते हैं। ‘उदयप्राप्त प्रारब्ध का वेदन करते हैं; परन्तु आत्मावस्था में प्रमाद नहीं होने देते।’ आत्मावस्था संभालकर चलने का दूसरा मतलब ऐसा है कि आत्मावस्था बनाये रखना और वृद्धिगत हो ऐसे पुरुषार्थ परायण रहना, पुरुषार्थ में रहना।

‘गुरुदेवश्री’ कहते थे, कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ तो बहुत चाहिये इसमें तो कोई सवाल

नहीं है। तीव्र पुरुषार्थवान का यह कार्य है। परन्तु सम्यग्दर्शन हो जाने के पश्चात् सम्यग्दर्शन को टिकने के लिये इससे भी अधिक पुरुषार्थ चाहिये। हालाँकि पुरुषार्थ तो दशा की वृद्धि के हेतु चलता ही होता है। और जब दशा वृद्धिगत होती हो वहाँ नहीं टिकने का सवाल उपस्थित नहीं होता। क्योंकि जब वृद्धि हो रही हो तब टिकने या टिकाने का सवाल पैदा नहीं होता। पुरुषार्थ तो वृद्धिगतपने का होता है। परन्तु सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में जो पुरुषार्थ चाहिये, इससे विशेष प्रकार का चाहिये, अधिक मात्रामें चाहिये यह बात सहज समझी जा सकती है।

इसलिये कहते हैं ‘आत्मावस्था में प्रमाद नहीं होने देते।’ निर्विकल्प शुद्धोपयोग के काल में पुरुषार्थ अवश्य अधिक होता है परन्तु उसवक्त पुरुषार्थ को बाधारूप या प्रतिपक्षरूप राग का उदय भी नहीं होता। यह थोड़ा विचार करने योग्य विषय है। निर्विकल्प शुद्धोपयोग हो, तब राग की उपस्थिति ही नहीं होती, बुद्धिपूर्वक का राग उत्पन्न नहीं होता। अतः आत्मा के प्रतिपक्ष में जो भी पर्याय खड़ी है, जो भाव है उस भाव का वहाँ उद्भव ही नहीं हुआ है। जबकि प्रारब्ध के उदयकाल में तो संयोग और संयोग प्रत्ययी परिणाम होते हैं। और दशा में वृद्धिगतपना या टिकने का होता है। अतः अधिक पुरुषार्थ आवश्यक है ऐसी गिनती करे तो सीधी समझी जा सके ऐसी बात है।

आपके साथ लड़नेवाला कोई न हो तब तो आप लकड़ी के या तलवार के दाव अच्छी तरह करके दिखा दो तो कह तो देवे कि, ठिक बात है भाई! अच्छा है। अच्छी कला आती है। लेकिन जब कोई सामने मारनेवाला आ जाये तब वैसे वार करना उसमें फर्क है और गैरमौजूदगी में करके दिखाना दो में फर्क है।

यह फर्क जरा बारिकी से समझने जैसा है।

दूसरा एक प्रसंग मुमुक्षु के लिये ले ले। सामान्यतः मुमुक्षु शास्त्रस्वाध्याय करता है, तो आत्मा का स्वरूप लक्षमें लेना और चिंतवन-मनन करना और स्मरण में लेना एक बात है और जब उदय की भीड़ में उसे स्मरण करना दो अलग-अलग बात हैं। दोनों बात में फर्क है। दोनों का फल भी अलग-अलग है। क्योंकि सामने विपरीत स्थिति खड़ी हो तब तो यथारूप विशेष योग्यता हो तो ही मुमुक्षु (टिक सकता है)। उसवक्त आत्मस्वरूप का स्मरण आना बहुत बड़ी बात है। इसमें भी मृत्युप्रसंग ले लो। प्रतिकूल प्रसंगों में भी उसे ले लो। उदय की भीड़ मतलब ऐसा ले लो कि, मृत्यु का अंदाजा लग जाये कि अब बचने का कोई उपाय नहीं है। उसवक्त यदि आपको अपना आत्मस्वरूप स्मरण में आ जाये तो बात ही कोई दूसरी हो जाती है जबकि निवृत्ति में ठवणी व शास्त्र लेकर बैठे, उसवक्त आत्माका स्मरण आना वह बात दूसरी है। वहाँ तो निवृत्ति मिली इसलिये कार्य करता है। जबकि, यहाँ तो ऐसा है कि दूसरा कुछ स्मरण कर ही न सके। देहात्मबुद्धि है और देह के छूटनेका अवसर आ जाये। किसी भी कीमत पर जीव को मरना सम्मत नहीं है, यह बात कोई सम्मत करे ऐसा नहीं है।

उसवक्त मृत्यु के प्रसंग को गौण करके अजर-अमर ऐसे आत्मा को स्मरण में लेवे तो इसका फल ही अलग आता है। और सामान्यतः दूसरा कोई काम न हो या किसी सामान्यकार्य को आगे-पीछे करके एक घण्टा निवृत्ति लेकर स्वाध्याय करने दौरान आत्मा का स्मरण करे, आत्मा का विचार करे वह बात ही दूसरी है। दोनों प्रसंग में आत्मविचार और आत्मविचार में अंतर है।

अतः ज्ञानी जो कि उदयकाल में प्रमाद को अवकाश नहीं देते उसमें ज्ञानी का पुरुषार्थ दर्शाना है। ऐसी ज्ञानी की अंतरंगदशा होती है। जो कि ज्ञानी की मूलदशा है। अंतरंगदशा नाम ज्ञानीकी वह मूलदशा है। उनके पुरुषार्थ को देखिये। उदय की भीड़ में भी उनके पुरुषार्थ को देखिये। तब जाकर ज्ञानीके पुरुषार्थ

की पहचान होगी और इसतरह की पहचानपूर्वक जो बहुमान आता है, वह कोई अलग प्रकार से संभव नहीं है। ऐसा वह प्रसंग है।

ज्ञानी 'आत्मावस्था में प्रमाद नहीं होने देते। प्रमाद के अवकाश योग में ज्ञानी को भी जिस संसार से अंशतः व्यामोह होनेका संभव कहा है...' अगर प्रमाद होता है तो यों कहते हैं अगर अवकाश पाकर ज्ञानी प्रमाद में आ जाये तो उनको भी नुकसान हो जाये ऐसा कहते हैं। अंशतः व्यमोह (हो) यानी कि उन्हें भी नुकसान हो जाये ऐसा 'संभव है।' ऐसे संसार प्रसंग हैं। कितने ही चित्र-विचित्र प्रसंग खड़े हो जाते हैं।

'उस संसार में साधारण जीव रहकर उसका व्यवसाय लौकिकभाव से करके आत्महित की इच्छा करे, यह न होने जैसा ही कार्य है;...' यह मुमुक्षु कैसे विपरीत समाधान कर लेता है यह बात करते हैं। ठीक है। बहुत से ज्ञानियों ने तीर्थकरों ने सबने संसार में रहकर आत्महित को साधा ही है न! हम भी व्यापारादि करते... करते... करते... आत्महित कर लेंगे। उनको यहाँ उत्तर देते हैं कि, भाई! ज्ञानी को भी सावधानी बरतनी पड़े ऐसा ये संसार प्रसंग है। ऐसे में साधारण जीव को यानी जिसका पुरुषार्थ हीन है अथवा जिसके आत्मा का सत्त्व अभी प्रकाशित नहीं हुआ। जो स्वयं हिनसत्त्व हुआ है ऐसा जीव को 'व्यवसाय लौकिकभाव से करके...' लौकिकभाव से करके मतलब क्या? अभी भी और चाहिये। जितना अधिक झुटाऊंगा उतनी मेरी इज्जत भी बढ़ेगी। या जैसे मैं व्यापार करूँगा एक दुकान होगी तो कहेंगे एक दुकानवाला है। पाँच दुकान होंगी तो लोग कहेंगे पाँच-पाँच दुकान चलती हैं। लोगों में मेरी अधिक गिनती होगी। जितना मैं अधिक प्रगति करूँगा, इतने मेरे संयोग बेहतर होंगे, अधिक वृद्धिगत होंगे, अतः समाज में मेरी कीमत भी (बढ़ेगी)। सब लोग आगे बिठायेंगे। भाई! इनको जरा आगे आने दीजिये। लेकिन उसमें है क्या? आगे बैठो चाहे पीछे बैठो इससे क्या फर्क पड़ता है? जीव एक कल्पना कर लेता है कि इसका मूल्य अधिक है। बात में कुछ दम नहीं है। वह सारा लौकिकभाव

है। लोकसंज्ञा द्वारा आत्महित की चाहत रखना वह तो असंभव ही है। किसी भी तरह आत्महित संभव नहीं है।

स्वयं को निवृत्ति की भावना है न? स्वयं व्यवसाय में खड़े हैं। 'मुंबई' से तो पत्र लिखा है। व्यवसाय में खड़े हैं फिर भी निवृत्ति के परिणाम अंदर से जोर करते हैं। इसलिये पत्र में यह विषय भी लेते हैं कि, हमको भी सँभाल-सँभालकर चलना पड़ता है। यहाँ खड़े जरूर हैं किन्तु प्रमाद को छोड़कर जागृतिपूर्वक बहुत सावधानीपूर्वक चलते हैं। वरना धड पर माथा रहना मुश्किल है। शिरच्छेद होनेपर मृत्यु होता है। वैसे आत्मदशा से चुके कि मृत्यु हुई मानो। इतनी दरकारपूर्वक चलना पड़ता है। और इस सावधानी में रहने में हमें भी पसीना आ जाता है। प्रस्वेद आ जाता है कभी कभी तो। लिखा है न? पसीना आ जाता है, ऐसा लिखते हैं। ऐसे पुरुषार्थ में रहते हुए भी, तो सामान्य जीवकी तो क्या हालत हो जाये? साधारण मनुष्य तो बेचारा डूब ही जाये। और कुछ नतीजा नहीं होगा। अर्थात् वह जीव संयोगों में इतना कार्य में एकमेक हो जायेगा कामकाज के दौरान, क्योंकि लाभ-नुकसान का सवाल है। व्यवसाय में तो सीधा लाभ-नुकसान का ही सवाल है।

अतः वहाँ जीव को 'आत्महित की इच्छा करे यह न होने जैसा ही कार्य है..' सो तो बनना नामुमकिन ही लगता है। 'क्योंकि लौकिकभाव के कारण जहाँ आत्मा को निवृत्ति नहीं होती,...' जीव का लक्ष ही लोगों पर से हटता नहीं है। 'वहाँ अन्यप्रकार से हितविचारणा होना सम्भव नहीं है।' मेरे आत्मा को हित कैसे हो? संयोग का हित-अहित देखनेवाले को आत्मा के हित-अहित देखने का विचार तक नहीं आता। उसका जीव को विचार भी नहीं आयेगा। जीव निवृत्त होकर शास्त्र पढ़ ले यह दूसरी बात है। परन्तु एक बार उदय के कार्य में लग गया फिर तो खलास। एक के बाद एक, एक के बाद एक। ये जिसका Counter Business होता है उसका क्या होता है? ग्राहकों की कतार लगी हो। दो गये कि चार

आ जायेंगे। क्या करेगा? सिर उठाने का मौका भी नहीं मिलेगा। वह जीव कैसे विचार करेगा? साधारण जीव आत्मविचारणा करे तो कैसे करे? ज्ञानी को भी सावधान रहना पड़े ऐसा है। कृपालुदेव को भी काम का भारी दबाव रहता था। स्वयं गद्दी सँभालते थे इसलिये काम का दबाव बहुत रहता था। बहुत सावधानी बरतनी पड़ती थी। फिर दूसरे की तो क्या दशा होवे? यह चितार रख दिया है। 'वहाँ अन्यप्रकार से हितविचारणा होना संभव नहीं है।'

'यदि एक की निवृत्ति हो तो दूसरे का परिणाम होना संभव है।' लौकिक भाव की निवृत्ति हो तो आत्महित की विचारणा में कुछ उपलब्धि यानी फल प्राप्त हो या उसतरफ के परिणाम चले। परन्तु लौकिकभाव चालू रहे... लौकिकभाव चालू रहे। अभी और कमाना है, और चाहिये, और चाहिये, अधिक चाहिये, उसको तो आत्महित की विचारणा भी शुरू नहीं होगी, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- आत्मा पकड़में नहीं आता इसलिये...

पूज्य भाईश्री :- कहाँ से पकड़ में आये? लौकिकभाव के बीच पकड़ में आ ही नहीं सकता। दोनों बातें विरुद्ध हैं। लोकभावना, लोकसंज्ञा और तथारूप जो लौकिकभाव ये सारे आत्मा को पकड़ने में बड़े से बड़े दुश्मन हैं। किसी भी तरह उसे पकड़ना संभव नहीं है। उसे कालकूट जहर कहा है। क्या बताया है? कालकूट जहर बताया है। इतना ही नहीं यह लोकसंज्ञा धंधा-व्यापार में ही सिमित नहीं रहती। यहाँ धर्म के क्षेत्र में आया है वहाँ भी लोकसंज्ञा रहती है कि इतना मैंने वाचन किया, इतनी मैंने पूजा की, इतना तो मैंने दान दिया, इतने-इतने धर्म के क्षेत्र में गिनने योग्य ऐसे बाह्यकार्य मैंने किये।

मुमुक्षु :- ४५ साल से सुनते हैं।

पूज्य भाईश्री :- ४५ साल से तो हम अनुयायी हैं। ठीक! ये सारी गिनती लोकसंज्ञामें जाती है और इसे कालकूट जहर कहा गया है। आत्मा के आनंदअमृत को वह मार देता है। 'क्योंकि लौकिकभाव के कारण जहाँ आत्मा को निवृत्ति नहीं होती वहाँ अन्यप्रकार

से हितविचारणा होना संभव नहीं है। यदि एक की निवृत्ति हो तो दूसरे का परिणाम होना संभव है। अहितहेतु ऐसे संसार संबंधी प्रसंग...' कितने अहित के कारण हैं यह अब कहते हैं। हेतु नाम कारण। 'अहितहेतु ऐसे संसारसंबंधी प्रसंग...' नाम व्यवसाय। व्यवसाय, कुटुम्ब परिवार की उपाधि। लौकिकभाव। उपाधि ही कहते हैं न? क्या कहते हैं उसे? और कोई अच्छा शब्द है?

'लौकिकभाव...' लोगों को मुख्य रखकर, समाज को मुख्य रखकर विचार किया जानेवाला भाव। 'लोकचेष्टा...' लोगों के बीच अच्छा प्रभाव दिखानेका प्रयत्न। मेरी प्रतिभा समाज में अच्छी से अच्छी बनी रहे। धार्मिक प्रतिष्ठा भी मेरी बड़े। ज्ञानीपुरुषों तो ऐसा कहते हैं कि जिस जीव को धार्मिक प्रतिष्ठा वर्धमान करने का व्यामोह है, यानी की धार्मिक समाज जो है उसमें खुद की प्रतिष्ठा (बड़े), ऐसे जीव को सारे संसार से एक भी चीज नहीं चाहिये सो बात नहीं है। पैसे का लालचू और ऐसी प्रतिष्ठा का लालचू इसमें कोई अंतर नहीं है। पैसे का लालचू तो फिर भी अच्छा है। प्रतिष्ठा का लालचू तो इसके लिये क्या कुछ नहीं करेगा यह कहना मुश्किल है। अतः जिनको धार्मिक प्रतिष्ठा भी नहीं चाहिये, केवल अपना आत्महित ही करना है। वैसी प्रतिष्ठा पर जिसका लक्ष नहीं है। ऐसी जिसकी लोकचेष्टा नहीं है, ऐसी जिसकी लोकसंज्ञा नहीं है, लौकिकभाव नहीं है उसकी यहाँ सक्षमता है।

'ऐसे संसार संबंधी प्रसंग लौकिकभाव, लोकचेष्टा इन सबकी संभाल...' इसकी जागृति, इसकी संभाल रखो, सावधानी रखे कि, इसमें कहीं भी मेरी बुराई तो नहीं हो रही है न? कोई मेरी बुराई तो नहीं कर रहा है न? अरे..! तू चाहे लाख कोशिश करले फिर भी (किसीको रोक नहीं पायेगा)। 'ऋषभदेव' भगवान सतयुग के प्रारम्भ में हुए तो भी 'मरिचिकुमार' बाहर जाकर भगवान की बुराई करते थे। बाहर जाकर बोलते थे कि नहीं बोलते थे? आप लोग नहीं जानते। मेरे दादाजी को आप क्या जानते हो? मेरे दादाजी को मैं जानता हूँ या आप जानते होंगे? ऐसा कहते

थे। घरमें तो हमलोग साथ में जो रहते हैं। उन्हें कौन पहचानता होगा? आप नहीं जानते ये महामायावी हैं। जितनी भी शोभा रचाई है, समवसरण में चमक-दमक बहुत होती है किन्तु ये सारी माया की रचना है। आप लोग उन्हें जानते नहीं, ऐसा कहते थे। बुराई करने में कोई कसर नहीं छोड़ते थे। ऐसी परिस्थिति होती है।

मुमुक्षु :- ऐसे सतयुग के जमाने में...

पूज्य भाईश्री :- सतयुग के जमानेमें और तीर्थंकर के पुण्य। साधारण मनुष्य के तो पूरे पुण्य ही कहाँ से हो सकते हैं? कि उनकी कोई बुराई करे ही नहीं। ऐसे पुण्य कहाँ से होंगे? हों ही नहीं सकते। कोई भी सत्पुरुष हो, कोई भी महापुरुष हो, कोई भी तीर्थंकर हो लेकिन इनके विरोधी होते और होते ही हैं। भले ही इसका फल बहुत दुःखदायी है परन्तु होते हैं जरूर। नहीं होते सो बात नहीं। ऐसी परिस्थिति है। अतः इसकी दरकार छोड़ देने की। इसका दुर्लक्ष कर लेना।

'इन सबकी संभाल यथासंभव छोड़ करके, उसे कम करके...' इसका दुर्लभ करके। व्यवहार संबंधी संसार प्रसंग हो तो इसका संक्षेप कर देना। उन्होंने लिखा है, शादिप्रसंग आया है न? तब कहा कि, ज्यादा दिखावा हो, ऐसा कुछ नहीं करना है। खुदकी महत्ता बड़े कि, भाई! 'मुम्बई' में तो इनकी गद्दी है। उस जमानेमें 'मुम्बई' की ज्योहरीबाजार में गद्दी हो और विदेश में कारोबार चलता था तो उनकी आबरू बड़ी हो गई थी। अब जब घरमें शादी का प्रसंग आया तो दिखावा तो वैसे भी शादी-विवाह के प्रसंग के माध्यम से ही होता है। वैसे तो कोई संपत्ति बिछाकर नहीं बैठता है कि देखिये! हम इतना कमाये। शादीप्रसंग में खर्च करे तब लोगों को ख्याल आता है कि, भाई! लगता है कि, इनके पास अच्छी-खासी संपत्ति इकट्ठी हो गई है। तब कहते हैं कि आडंबर-दिखावा मत करना। सूचना दे दी है। हम तो देर से आयेंगे किन्तु जो लोग काम में व्यस्त थे उनको कह दिया था कि, आडंबर ज्यादा हो, दिखाव ज्यादा हो वैसे कुछ भी आपको नहीं करना है। इसतरह 'उसे कम करके आत्महित को अवकाश देना योग्य है।' यानी कि इसे गौण

करके आत्मा के हित की मुख्यता करना, तो ही आत्महित हो सकेगा वरना आत्महित संभव नहीं है।

‘आत्महित के लिये सत्संग जैसा बलवान अन्य कोई निमित्त प्रतीत नहीं होता,...’ यह तो उनके वचनका मुद्रालेख है कि, जिस मुमुक्षु को आत्महित करना हो उसके लिये सत्संग जैसा अन्य कोई निमित्त नहीं है। यह बात तो कभी भी विस्मृत करने जैसी नहीं है या गौण करने जैसी नहीं है। सबसे पहले यह बात है। शेष सब क्रियाएँ बाद में हैं। निम्नस्तर की हैं इसके आगे। ‘आत्महित के लिये सत्संग जैसा बलवान अन्य कोई निमित्त प्रतीत नहीं होता, फिर भी वह सत्संग भी...’ अब सत्संग तो करे फिर आगे कहते हैं, जो करते हैं इनको सूचना देते हैं। जो करते ही नहीं है उनको प्रथम करना। अब करनेवाले को बताते हैं कि,

‘वह सत्संग भी जो जीव लौकिकभाव से अवकाश नहीं लेता उसके लिये प्रायः निष्फल होता है।’ सत्संग भी करे और लोकावेश में भी उतना का उतना रहे। लौकिकभाव उसे आये। सांसारिक प्रसंग में भी लौकिकभाव आये और यहाँ धर्म के क्षेत्रमें भी लौकिकभाव आते रहे। वहाँ भी मेरी मुख्यता हो, यहाँ भी लोगों की नजर में मेरा दिखाव अच्छा हो। लोगों की नजर में मेरा स्थान अच्छा हो, ऐसा जहाँ-जहाँ जीव को रहता है कि, जीव का सत्संग वहाँ सफल नहीं होता। सत्संग की उपासना करता हो तो भी निष्फल जाता है।

मुमुक्षु :- समाज के कार्य नहीं करने ?

पूज्य भाईश्री :- नहीं। समाज के कार्य नहीं करना। आत्मा के कार्य करना। समाज के कार्य नहीं करना। समाज के कार्य लौकिकभाव छोड़कर ऐसी शर्तपूर्वक करने की छूट है। कौनसी शर्त पर करना ? लोकसंज्ञा व लौकिकभाव छोड़कर करने की छूट है। साथ रखकर करने की बिलकुल छूट नहीं है। जहर खाने की ‘हाँ’ कैसे करे ? ऐसा है। जो लौकिक विशेषता दिखानी है, लोगों में अधिकाई दिखानी है वह तो जहर खाने की बात है। इसकी तो हाँ कैसे करे ?

क्या कहते हैं, ‘जो जीव लौकिकभाव से अवकाश नहीं लेता उसके लिये प्रायः निष्फल जाता है, और सत्संग कुछ सफल हुआ हो...’ शायद कुछ सत्संग का असर हुआ हो, परिणमन पर असर पहुँचा हो ‘तो भी यदि लोकावेश विशेष विशेष रहता हो तो उस फल के निर्मूल हो जाने में देर नहीं लगती...’ थोड़ा पढ़े, थोड़ा सोचे, थोड़ा सुने कि जीव को लगता है कि नहीं, नहीं आत्मकल्याण तो कर लेने जैसी बात है। कर तो लेना चाहिये। पुनः लौकिक कार्य में व्यस्त होते ही वह असर निर्मूल होने में देर नहीं लगती। थोड़ा-बहुत असर आया हो वह धूल जाता है। पुनः जीव को ऐसा लगता है कि, भाई ! मुझे तो इसने आज टेलिफोन करके बुलाया कि आपके बिना तो हमें चलेगा नहीं। भाई ! आपको तो आना ही पड़ेगा। आपके बिना तो हमें चलेगा ही नहीं। अपनी इतनी कीमत है। समाज में आज अपनी किंमत है। मेरा कुछ स्थान है ऐसा लगे। कहते हैं कि इसमें तो आत्महित की बात नष्ट होने में देर नहीं लगती, धूल जाती है। यहाँ तनिक आने पर ऐसा लगता है कि, नहीं नहीं करने जैसा यह है, है ! महापुरुषों ऐसा कहते हैं, ‘गुरुदेवश्री’ ऐसा कहते हैं, आत्मा का कल्याण कर लेने जैसा है। दुकान पहुँचते-पहुँचते कितने ही विचार तो रास्तेमें ही आ जाते हैं। अभी तो टेलिफोन तक पहुँचे इसके पहले ही रास्ते में ये सब शुरू होने लगा हो। किसी तरह का असर टिके नहीं ऐसी परिस्थिति है। क्योंकि दुकान का रस बहुत तीव्र है। वहाँ का रस काफी प्रगाढ़ हो चूका रहता है तब यह स्थिति खड़ी हो जाती है।

‘और स्त्री, पुत्र, आरंभ तथा परिग्रह के प्रसंगमें से यदि निजबुद्धि छोड़ने का प्रयास न किया जाये तो सत्संग के सफल होने का सम्भव कैसे हो ?’ जो जीव सत्संग में शास्त्रों का अध्ययन करते हैं, विचार करते हैं, शास्त्रपठन करते हैं। तत्त्वज्ञान का जिन्हें अभ्यास है उनको यह पहलू सँभालने जैसा है कि, मेरा जो स्त्री, पुत्रादि परीवार व व्यवहार और जो भी संपत्ति की प्राप्ति है, व्यवसाय है सो आरंभ है और संपत्ति

की प्राप्ति है सो परिग्रह है, उसमें से निजबुद्धि को छोड़ना। इसमें से मेरा कुछ भी नहीं है। ऐसा एक प्रयत्न करना पड़ता है।

जैसे शास्त्र में आत्मा को समझने का प्रयत्न करना पड़ता है वैसे उदयभाव में अपनत्व की बुद्धि को छोड़नेका एक दूसरा प्रयत्न भी करना आवश्यक होता है। दो दिशाओं में प्रयत्न करना है। शास्त्र पढ़े किन्तु यह प्रयत्न नहीं करता हो, उसको सत्संग कभी फलवान नहीं होता। उसका पढ़ा हुआ निष्फल जाता है, सुना हुआ निष्फल जाता है, सोचा हुआ भी निष्फल जाता है। कितनी सुंदर बात ली है।

इस जगह बहुत सुंदर मार्गदर्शन दिया है, हँ! मुमुक्षु को यह विषय बहुत उपकारी है। जो जीव सत्संग में थोड़े-बहुत अंश में भाग लेता है, रस लेता है और सत्संग करता है ऐसे जीव को अपनी स्त्री, अपना पुत्र और स्त्री, पुत्र के नाम लिये हैं परन्तु परिवार के सब इसमें आ जाते हैं। भाई-बहन, माता-पिता सब, समधि आदि सगे-सम्बन्धी सब इसमें आ जाते हैं, तमाम आ जाते हैं। इन सगे-स्नेहियों के परिवार में आत्मबुद्धि को छोड़ना। ये मेरे हैं.. ये मेरे हैं... ये मेरे हैं... इसकी मुख्यता छोड़नी होगी। इसके लिये प्रयत्न करना होगा। और व्यवसाय व प्राप्त संपत्ति आदि में भी अपनत्व छोड़ने का प्रयत्न अगर करेगा तो ही सत्संग सफल होगा। प्रयत्न नहीं किया जायेगा तो सत्संग सफल नहीं होगा।

सत्संग की सफलता हेतु क्या-क्या आवश्यक है? क्या-क्या बाधारूप है? इसका चारों पहलूसे विचार कर्तव्य है। वरना व्यर्थ संतोष ले लेगा कि, मैं तो हररोज सत्संग करता हूँ, जो करता है उसके लिये। नहीं करते हो उसकी चर्चा ही कहाँ करने जैसी है? करता होगा उसे मिथ्या संतोष आयेगा।

‘जिस प्रसंग में महा ज्ञानीपुरुष सँभल-सँभलकर चलते हैं, उसमें इस जीवको तो अत्यंत अत्यंत सावधानता से संकोचपूर्वक चलना चाहिये, यह बात भूलने जैसी ही नहीं है,....’ बेर का जंगल है। बेर के काँटे सामने से चिपकते हैं। कैसे? थोड़े नजदीक से चले तो पौधा हवा से खींचता है, कपड़े को खींचता

है और काँटे भी टेढ़े होते हैं। उसके काँटे सीधे नहीं होते, हूक में फँस जाता है वैसे फँस जाता है। गाँव में रहे हो उनको पता होता है। यह बेर के काँटेका जंगल है, ऐसा कहते हैं। ‘जिस प्रसंग में महा ज्ञानीपुरुष सँभल-सँभलकर चलते हैं,....’ बहुत जागृति रखकर, ‘संकोचपूर्वक’ अपनी वृत्ति का संक्षेप करके, ‘संकोचपूर्वक चलना चाहिए, यह बात भूलने जैसी ही नहीं है...’ यह बिलकुल विस्मरण करने योग्य नहीं है।

‘ऐसा निश्चय करके...’ ऐसा दृढ़ निश्चय करके ‘प्रसंग-प्रसंग में,....’ यानी कि प्रत्येक उदयमें ‘कार्य-कार्य में और परिणाम-परिणाममें उसका ध्यान रखकर उससे छूटा जाये,....’ देखिये! काठियावाड़ी शब्द का प्रयोग किया है। इससे छूटा जाये, ‘मोकळु थवाय’ ‘वैसे ही करते रहना...’ ऐसा प्रयत्न करना, ऐसा पुरुषार्थ करना, ऐसी जागृति रखनी, ‘यह हमने श्री वर्धमानस्वामी की छद्मस्थ मुनिचर्या के दृष्टांत से कहा था।’ प्रसंगोपात प्रत्यक्ष चर्चा में बात चली होगी उसवक्त भगवान ‘महावीरस्वामी’ की छद्मस्थ मुनिचर्या का कोई दृष्टांत दिया होगा। वहाँ हमें यह बात करनी थी। मुनिचर्या का दृष्टांत लिया है और मुमुक्षु को सिद्धांत समझाया है। सिद्धांत तो केवली के दृष्टांत से, मुनि के दृष्टांत से समझाया जाता है क्योंकि वह दशा अधिक स्पष्ट है। वहाँ आत्मभाव एकदम खुलकर बाहर आया है। उसी जाति के परिणाम मुमुक्षुता की जघन्य भूमिका में कैसे करने चाहिये, कैसे-कैसे होने चाहिये यह सिद्धांत स्पष्ट करने के लिये हमने कहा था, इसका आप विचार करें, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार मुमुक्षुजीव के लिये ढेर सारा मार्गदर्शन इस एक पत्र के दो पेरोग्राफ में दिया है। पुनः-पुनः विचार करने योग्य व लक्ष्य में लेने योग्य बहुत सुंदर विषय है। यहाँ तक रखते हैं।

पूज्य भाईश्री द्वारा लिखित 'अनुभव संजीवनी' ग्रंथमें से कुछएक वचनमृत

स्वसंवेद्यमान स्वरूप(के) 'अवलोकनमें'-(अनुभवमें) अखण्ड रसधारा बरस रही है - वह शांतरस, अमृतरस - चैतन्य रसधारा है। अखूट आत्मरसका प्रवाह है। यह एक देश, जघन्य वेदन ऐसा है कि उस आंशिक आनंदके आगे इन्द्रादि संपदा दुःखका निमित्त - विकाररूप भासित होती हैं। (अनुभव प्रकाश) (११९)



ज्ञानलक्षणपूर्वक स्वभावकी पहचान हुए बिना विभावकी भी पहचान नहीं होती और इसी वजहसे स्वरूपकी पहचान बिना अज्ञानभावसे किसी न किसी विभावमें ही स्वभावकी अर्थात् आत्माकी कल्पना होनेसे - विभावका सेवन नहीं छूटता । कषायकी मंदता अथवा ज्ञान-चारित्र आदि किसी भी गुणके परान्मुखी क्षयोपशममें स्वभावका भ्रम (पहचानके अभावसे) हो जाता है । और उसमें ही आगे बढ़नेकी अभिलाषासे उसका सेवन होता है । (१२०)



'स्वरूपकी सहज अंतर सावधानीरूप' (में ज्ञानमात्र हूँ) ऐसी वृत्तिका झुकाव, वह सन्मार्गकी एकमात्र मुख्य रीढ़ (आधार दंड) है। जिसके अभावमें अन्यभाव / अन्यद्रव्यकी सावधानी सहजरूपसे रहनेसे प्रमादका साम्राज्य प्रसरता है। (१२१)



सत्का प्रगट अनुभव-दशा जिन्हें वर्तती हो ऐसे पुरुषका समागम वह सत्संग है। जो कि अति दुर्लभ है; फिर भी ऐसा सत्संग भी निष्फल जाये ऐसे कारणरूप परिणामोंका जब जीव सेवन करता है तब रत्न चिंतामणी जैसा मनुष्यभव गँवा देनेका - हार जानेका बनता है। ऐसे सत्संगके निष्फल जानेके कारण निम्न प्रकारसे हैं :-

(१) मिथ्या आग्रह :- जीवने भूतकालमें अनादिसे मिथ्या अभिप्रायका सेवन किया है। उसका आग्रह सत्संग प्राप्त होनेके बावजूद भी नहीं छोड़ना वह मिथ्या आग्रह है। संक्षेपमें उसका स्वरूप इस प्रकारसे है कि जिस आग्रहके वशात् 'मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ' ऐसी अंतर सावधानी उत्पन्न नहीं होती और परकी सावधानीरूप परिणामोंकी अधिकाई - वजन रहा करता है। प्रशस्त क्रिया - परिणामोंका आग्रह भी चैतन्य स्वरूपकी सावधानी होने नहीं देता, वह (भी) मिथ्याआग्रह है। सर्व प्रकारके मिथ्याआग्रह छूट जानेका निमित्त 'सत्संग' है। फिर भी अगर जीव वहाँ भी मिथ्याआग्रहको नहीं छोड़ता है, तो प्राप्त हुआ सत्संग भी निष्फल जाता है। फिर तो मिथ्याआग्रह छूटनेके लिये और कोई कारण-साधन नहीं रहता।

(२) स्वच्छंदीपना :- दोषितभावोंके पक्षपातमें, दोषमें ममत्व होनेसे स्वच्छंद उत्पन्न होता है। यह स्थिति सत्संगको निष्फल करनेवाली है। दोषितभावके पक्षपातमें दोषकी रुचि काम करती है; अतः उसके अभावका प्रयत्न नहीं होता। इतना ही नहीं बल्कि स्वच्छंदी जीव दोषको गौण करता है अथवा अपेक्षावादके बहाने दोषका बचाव / रक्षा करता है। सर्व अन्यभाव दोषरूप होने पर भी उसमें उत्साहपूर्वक सावधानीपूर्वक प्रवर्तन करना, यह भी स्वच्छंदका सूक्ष्म प्रकार है। 'मैं ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी स्वरूपकी

सावधानीके अभावमें उक्त प्रकारसे स्वच्छंदका जन्म होता है। यह दोष तीव्र होने पर मानप्रकृति जोर करती है। तीव्र होने पर देव, गुरु, शास्त्र व सत्पुरुष के प्रति अविवेक भी होने लगता है। स्वच्छंदी जीवको गुण व गुणवानकी अरुचि होती है। उसकी चाहत उसे नहीं रहती।

(३) प्रमाद :- 'मैं ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी सतत जागृतिका अभाव व अन्य भावका रस होना - वह प्रमाद है। प्रमादभावमें कषायरस बहुत भरा है इसलिये सत्संगका असर नहीं होता।

(४) इन्द्रियविषयकी अपेक्षा :- जड़की अवस्थामें सुखबुद्धि - रसबुद्धि - महिमावंतता होने पर उसकी अपेक्षा रहा करती है - तब जीव निज महिमाको, निज सुखको - स्वभावको भूलता है और स्वभावकी अपेक्षामें प्रवर्तता है। 'मैं ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी स्वयंकी जागृतिके वक्त - इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थ सुख रहित भासित होते हैं इसके कारण भी व्यामोह नहीं होता। 'मैं ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी जागृतिपूर्वक ज्ञानमें-स्वमें इन्द्रियविषयका अभाव भासित होनेसे उसकी अपेक्षावृत्ति-बुद्धि नहीं होती। इन्द्रियविषयकी अपेक्षामें (वासनासे) सत्संगमें प्राप्त बोध नहीं चढ़ता - क्योंकि इन्द्रियविषयके रसमें ज्ञानरसका अभाव है। और ज्ञानमें अर्थात् स्वकी जागृतिसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानरसमें, इन्द्रियविषयका रस अभावको प्राप्त होता है। जो कि सत्संगका प्रत्यक्ष फल है। सत्पुरुषके प्रति 'अत्यंत भक्ति' विषयवृत्तिके रसको मंद करती है; और 'अत्यंत भक्ति' सहित समागम किया जाता है तो ही सत्पुरुषका बोध परिणमित होता है। और सत्समागममें भक्तिपूर्वक समर्पित होनेसे इन्द्रियों तरफकी वृत्ति शिथिल हो जाती है और तब निजहितका भाव बलवान होता है। इस प्रकार पर विषयका रस - जड़का रस, सत्संग सफल होनेमें प्रबल अवरोधक - प्रतिबंधक कारण है।

(५) अपूर्व भक्तिका अभाव :- सत्संगके दाता ऐसे ज्ञानी - परमपुरुष - परमात्माके प्रति अपूर्व भक्तिके अभावके कारण ही आगे कहे हुए चारों प्रकारके दोष सहज उत्पन्न हो जाते हैं। जिसे अपूर्व भक्ति वर्तती है वह जीव संसार तिर जाता है। अतः ज्ञानीके योगको परम हितकारी जानते हुए, परमप्रेमसे, सर्वार्पणबुद्धिसे, सर्व संयोगोंको गौण करके उस योगकी उपासना कर्तव्य है। और तभी ज्ञानीसे प्राप्त बोधका परिणमन होता है, अन्यथा परिणमन नहीं हो सकता (बल्कि) सिर्फ शुष्क धारणा रह जाती है, यह वस्तुस्थिति है। वास्तवमें तो ज्ञानीपुरुषकी पहचान होने पर पात्र जीवको इस प्रकारकी अपूर्व भक्ति जागृत हो ही जाती है, हुए बिना नहीं रहती। ऐसी भक्ति जो है वह सिर्फ प्रशस्त रागवृद्धिरूप नहीं है परन्तु प्रगट सत्का ही मूल्यांकन है, जिसके कारण दर्शनमोह दृढ़ हो ऐसे दोष उत्पन्न ही नहीं होते, बल्कि दर्शनमोह गल जाये, ऐसी परिणामकी परिस्थिति हो जाती है - यह सत्संगमें सन्निहित महान रहस्य है। इसीलिये तो सभी ज्ञानियोंने अपने अनुभवसे जगह-जगह सत्संगका महत्त्व प्रदर्शित किया है। जिसको विवादका विषय बनाकर खींचना बिलकुल योग्य नहीं है। (१२२)

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (जुलाई-२०१३) का शुल्क श्रीमती लक्ष्मीबहन तलक्षी छेला (०९३२२२९०६८१) तथा श्रीमती इलाबहन दीनेशभाई छेडा (०९८६९०६२४६४), ह. दिपकभाई छेडा के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।



द्रव्यदृष्टि प्रकाश ग्रंथमें से आत्मा कैसे प्राप्त हो उस विषय पर पूज्य श्री सोगानीजी के वचनमृत

प्रश्न :- वर्तमान ज्ञानवेदन खयाल में आता है वैसे त्रिकाली सत् खयाल में क्यों नहीं आता है? उघाड़ में तो युक्ति आदि से आता है लेकिन अंदर से खयाल में क्यों नहीं आता ?

उत्तर :- जो उघाड़ में न्याय से खयाल में आया, तो (वो) खयालवाली ज्ञानपर्याय भी तो कोई आधार पर खड़ी है; - तो वह आधारवाली वस्तु क्या है ? - ऐसे देखकर, उस आधारवाली शक्ति में ही थँम जाना-प्रसर जाना, वो ही सत् स्वभाव है। (त्रिकाली स्वरूपमात्र खयाल में लेना है - ऐसा अभिप्राय नहीं रखकरके, अंतर में त्रिकाली आधारभूत शक्ति को स्वयं के रूप में देखने का प्रयास करना चाहिए। जिससे सहज स्थिरता होगी।)

१२५.



प्रश्न :- पर्याय से छूटे कैसे ?

उत्तर :- पर्याय से तो छूटे हुए ही हैं। 'त्रिकाली' तो पर्याय में आता ही नहीं। लेकिन पर्याय में एकता कर रखी है - वह एकता, त्रिकाली में थापने की है।

१२७.



परिणाम में बैठकर (त्रिकाली) वस्तु को देखने से वस्तु भिन्न दिखती है। इसलिए परिणाम से भिन्न होनेके लिए वस्तु में बैठकर देखना है, तभी वस्तु में अपनापन (एकत्व) होनेसे पर्याय का कार्य भिन्न दिखने लगेगा; और (- ऐसी) भिन्नता दिखने से पर्याय का नाश होते हुए भी (द्रव्य में) अपनापन तो त्रिकाल ही रहता है; तभी तो पर्याय के नाश होनेसे आकुलता नहीं होगी; और इधर में (त्रिकाली में) बैठने से सुख-शांति बढ़ेगी।

१३३.



असलमें बात यह है कि सबकी सब धारणा तो (अज्ञानी भी) सच्ची कर लेता है, परंतु पर्याय में बैठकर (अहंभाव रखकर) द्रव्य को देखता है, तो द्रव्य जुदा का जुदा पड़ा रहता है। पर्याय में बैठकर द्रव्य को नहीं देखना है, किन्तु द्रव्य में बैठकर द्रव्य को देखना है, तो द्रव्य में अपनापना प्रसर जाता है (- अभेदता होती है।) पर्याय में बैठने से (- एकता करने से) द्रव्य तो दूर ही पड़ा रहता है।

१३८.



पहले विकल्पात्मकता में तो यह निर्णय कर लो कि, परिणाम की अपेक्षा से इधर (अंतर में) ही जमने का है; दूसरा कुछ भी करने का नहीं है। - ऐसे विकल्पात्मक निर्णय का भी अवलंबन नहीं होना चाहिए। और 'में तो अपरिणामी हूँ, परिणाम में जाता ही नहीं' - ऐसा अभ्यास होनेपर दृष्टि जम जायेगी। (विकल्पात्मक निर्णय सही होते हुए भी निर्णयरूप परिणाम की मुख्यता नहीं होनी चाहिए; परंतु अपरिणामी निजस्वरूप के प्रति पुरुषार्थ तीव्र होना चाहिए। निर्णय या समझ यथार्थ होनेसे ऐसे यथार्थ परिणाम पर वजन रह जाता है तो वह भी ध्रुव स्वभाव के अवलंबन लेने हेतु प्रतिकूल है।)

१६०.



चाहे जैसी बात व कितनी ही बार कहने में आवे लेकिन 'त्रिकाली की अधिकता कभी नहीं छूटनी चाहिए'। कथन चाहे जैसा आवे, परन्तु यह बात कायम रख करके ही अन्य सब बातें हैं - त्रिकाली की अधिकता कभी नहीं छूटनी चाहिए।

१६३.



(पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा)

पुरुषार्थ उग्र हो तो कार्य आये, परन्तु अभ्यास करते हुए थकना नहीं। अभ्यास तो करते ही रहना। उसे छोड़ना नहीं। उसकी सन्मुखताका प्रयत्न नहीं छोड़ना।

(स्वानुभूतिदर्शन-३३९)



प्रश्न :- अज्ञानीके तथा ज्ञानीके इन्द्रियज्ञानमें कोई अंतर होता है ?

समाधान :- बाहरका जाननेकी अपेक्षा दोनोंका ज्ञान समान है। परन्तु दोनोंकी दिशायेँ भिन्न हैं। ज्ञानीको यथार्थ ज्ञान है, इसलिये उसे भेदज्ञानपूर्वक ज्ञान होता है, कहीं एकत्व नहीं होता, इसलिये वह स्वकी दिशामें रहकर, अर्थात् स्वको साथ रखकर परको जानता है, स्वको नहीं छोड़ता, इसप्रकार उसकी दिशा भिन्न है, स्वकी ओरकी है। जबकि अज्ञानी मानो बाहर चला गया हो, इसप्रकार परको जानता है। बाहरका जानना जैसे कि यह किवाड़ है, यह है, वह है, वह जाननेकी अपेक्षा दोनोंका ज्ञान समान है। परन्तु उसकी (ज्ञानीकी) दिशा जुदी है। वह जुदी (स्वकी) दिशामें खड़ा रहकर जानता है। और अज्ञानी जुदी दिशामें-परमें एकत्व करके जानता है। इसप्रकार देखने-देखनेमें अंतर है। ज्ञानीको अतीन्द्रियज्ञानकी परिणति प्रगट हुई है, किंतु उसके साथ अभी अपूर्णता है, इसलिये उपयोग बाहर जाता है; जाननेमें उसे इतना इन्द्रियोंका तथा मनका आश्रय आता है; जबकि अज्ञानीको अकेला इन्द्रियज्ञान ही है, उसे स्वका ज्ञान नहीं है। ज्ञानीकी दिशा ही जुदी है। उसकी परिणति स्वकी ओर रहती है और जब उपयोग परकी ओर जाय तब वह परको पृथक् रहकर जानता है। इसप्रकार जाननेकी पूरी दिशा जुदी है। इसलिये ऐसा भी कहा जाता है कि ज्ञानीकी सब परिणति ज्ञानरूप ही परिणमन करती है, और अज्ञानीका जाना हुआ सर्व ज्ञान अज्ञान कहलाता है, क्योंकि वह स्वको नहीं जानता है और परमें एकत्व करके जानता है। ज्ञानी ऐसा नहीं मानता कि मुझे इन्द्रियोंसे लाभ होता है, मैं उनके आश्रयसे जानता हूँ। वह पृथक् रहकर जानता है, स्वयं अपने स्वतः परिणमनको जुदा रखकर जानता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३४०)

प्रश्न :- ज्ञानीके इन्द्रियज्ञान वृद्धिगत होता दिखाई देता है, और अज्ञानीके इन्द्रियज्ञान वृद्धिगत होता हो ऐसा दिखाई नहीं देता ?

समाधान :- इन्द्रियज्ञानका क्या प्रयोजन है? वह वृद्धिगत हो या न हो, अतीन्द्रिय ज्ञानकी परिणतिमें वृद्धि हो, वह वृद्धि है, साधनाकी वृद्धिमें वृद्धि वही वृद्धि है। बाह्यका इन्द्रियज्ञान वृद्धिगत दिखाई देता है, वह तो सब बाहरसे देखना है, उसकी वृद्धि हो उका कोई अर्थ नहीं है। अंतरकी-अतीन्द्रियज्ञानकी परिणति बढ़ती जाय, स्वानुभूति-भेदज्ञानकी धारा अंदरमेंसे वृद्धि हो वह सच्ची वृद्धि है। बाह्य वृद्धि सो वृद्धि नहीं। बाह्यमें (क्षयोपशम) बढ़ता दिखाई दे या दिखाई न दे, उसे देखना ही नहीं है; बाहरसे इतना सुना, इतना पढ़ा, इतना धारण किया-ऐसे उससे कोई परीक्षा नहीं होती। बाह्य वृद्धि तो अज्ञानीके भी दिखाई दे; परन्तु अंतरंग परिणतिमें वृद्धि हो वह सच्ची वृद्धि है। बाह्य वृद्धि वह कोई वृद्धि नहीं है। अंतर परिणतिकी वृद्धि होना ही सच्ची वृद्धि है।

इन्द्रियज्ञान बड़े उसका कोई महत्त्व नहीं है। उसका महत्त्व भी नहीं मानना, वह परीक्षाका योगफल नहीं है। अंतरकी परिणति क्या कार्य कर रही है सो देखनेका है। अंतर श्रद्धा-ज्ञान-लीनताकी परिणति क्या कार्य करती है उसे देखना है।

मुमुक्षु :- लोगोंको बाहरका विस्मय होता है। और धर्मात्माको अंतरका।

बहेनश्री :- अंतर-परिणति ही सच्ची है। मुक्तिका मार्ग सब अंतरमें है। अनादिकालसे बाहर देखनेकी दृष्टि है, इसलिये बाहर देखता है। परन्तु बाहरका विस्मय लगे उससे सच्ची परीक्षा नहीं होती। भगवान समवसरणमें बिराजमान हों, उन्हें देखकर कहते हैं कि आपकी शोभा अद्भुत है! इस प्रकार भक्तिमें सब आता है, परन्तु अंतर देखनेकी दृष्टि अंतरमें है। भक्तिमें वाणीकी महिमा करते हैं, शरीरकी महिमा करते हैं। वैसे ही गरुदेवका प्रभावना योग कैसा है! उनकी मुद्रा कैसी है! वे तीर्थकर-द्रव्य हैं—आदि सब भक्तिसे कहते हैं परन्तु अंतरमें परीक्षा करके कहे वह बात ही अलग है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३४१)



पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- अज्ञानीकी अपेक्षा ज्ञानी, गुरुका विशेष विनय करे और उनके प्रति भक्ति उल्लसित होनेपर कहें कि आप मेरे लिये अनन्त तीर्थकरोंसे भी अधिक हो, फिर भी उन्हें एकत्वबुद्धि नहीं होती ?

समाधान :- ज्ञानी ऐसा कहते हैं कि यहाँ आपका जन्म नहीं होता तो हम जैसे पामरोंका क्या होता ? इस प्रकार ज्ञानी अधिक विनय करते हैं; क्योंकि अपने अंतरमें जो स्वभाव प्रगट हुआ है, उस स्वभावकी उन्हें इतनी महिमा है कि, जिन्होंने वह स्वभाव प्रगट किया और समझाया, उनके प्रति भी उन्हें महिमा आती है। जो शुभभाव है उसके साथ अंतरमें भेदज्ञान वर्तता है। तथापि साथमें शुभभाव भी उल्लसित होता है। अपनी परिणति प्रगट करनेमें मुझे गुरुदेवका उपदेश निमित्त है, ऐसा ज्ञानमें होनेसे, उनके प्रति भक्ति उल्लसित होती है। दूसरोंकी अपेक्षा उन्हें अधिक उत्साह एवं भक्तिभाव आता है। बाहरसे किसीको ऐसा लगे कि मानो एकत्वबुद्धिसे यह सब करते हैं। परन्तु शुभभावसे तो उन्हें भेदज्ञान वर्तता है। उन्हें शुभभावका जो उल्लास आता है वह भी और ही जातिका आता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३३५)



प्रश्न :- ज्ञानीको शुभभाव आता है और उसी काल उसे भेदज्ञान भी वर्तता है। उसका मेल कैसे है ?

समाधान :- ज्ञानीको भेदज्ञान वर्तता है। और ऐसा भी (महिमाके) भावमें उल्लास आनेपर कहे कि गुरुदेव ने ही सर्वस्व दिया है। और वह असत्य भी नहीं बोलता, ऐसा भाव सहज आता है और उसी काल उस भावके साथ भेदज्ञान है, दोनों साथ हैं। उस (महिमाके) भावसे अंतरसे भिन्न रहनेपर भी दूसरे (अज्ञानी)की अपेक्षा ज्ञानीको देव-गुरुके प्रति खूब भक्ति आती है। भेदज्ञान और सच्चे देव-शास्त्र-गुरुकी भक्तिके मेल है।

जितने साधनाके तथा पूर्णताके बाह्य साधन हों उन सब पर उल्लास आता है; तथापि उसी क्षण भेदज्ञान

वर्तता है। ज्ञायककी तथा शुभभावकी—दोनों परिणति अलग अलग कार्य करती हैं।

(स्वानुभूतिदर्शन-३३६)



प्रश्न :- वचनानामृतमें अनेकबार 'गहरी जिज्ञासा' की बात आती है, तो वह गहरी जिज्ञासा

किस प्रकारकी होगी ? हमें वह क्यों नहीं प्रगट होती ?

समाधान :- जिसे गहरी जिज्ञासा हो उसे कहीं चैन नहीं पड़ता, उसकी परिणति अंतरमें गये बिना नहीं रहती। ऐसी अंतरमेंसे उग्र परिणति प्रगट हो और वह अखंडित धारावाही रहे तब सम्यक्त्व प्रगट होता है। ऐसी गहरी जिज्ञासा प्रगट होनेपर किसीको एक अंतर्मुहूर्तमें सम्यक्दर्शन हो वह बात अलग है; अधिकांशको तो अभ्यास करते-करते होता है। (स्वानुभूतिदर्शन-३३७)



प्रश्न :- क्या ऐसा वेदन होना चाहिये कि जबतक अंतरमें कार्य न हो तबतक चैन न पड़े ?

समाधान :- हाँ, चैन न पड़े, ऐसा वेदन अंतरसे आना चाहिये। अपना स्वभाव ग्रहण करे, किन्तु वह मंद-मंद रहे, और उग्रता न आये, तबतक प्राप्त नहीं होता; परन्तु उसका वेदन उसे अंतरसे ऐसा प्रगट हो कि वह प्राप्त न हो तबतक चैन ही नहीं पड़े। अंतरसे उग्र आलंबन एवं उग्र परिणति अपनी ओर जाये तो, प्रगट हुए बिना रहता ही नहीं। आकुलतारूप नहीं किन्तु अंतरवेदन ही ऐसा हो कि परिणति बाह्यमें टिकनेके बदले, एकत्वबुद्धि तोड़कर अंतरमें ज्ञायककी परिणति हो जाय, ऐसी उग्रता होनी चाहिये। विशेष लीनताकी बात तो आगेकी रही परन्तु यह एक ज्ञायककी परिणति पृथक् होकर, एकदम परिणमनरूप हो ऐसा उग्र वेदन अंतरसे आना चाहिये। (स्वानुभूतिदर्शन-३३८)



प्रश्न :- उग्र वेदनके लिये क्या करना ?

समाधान :- उसका अभ्यास अंतरमें करते रहना। उसमें उग्रता कैसे हो वैसी भावना वारंवार करते-करते

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-१६ पर)



‘एक पुराणपुरुष और पुराणपुरुषकी प्रेमसंपत्तिके बिना हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता; हमें किसी पदार्थमें रुचि मात्र नहीं रही है; कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होती; व्यवहार कैसे चलता है इसका भान नहीं हैं; जगत किस स्थितिमें है इसी स्मृति नहीं रहती; शत्रु-मित्रमें कोई बेदभाव नहीं रहा; कौन शत्रु है और कौन मित्र है, इसका ख्याल रखा नहीं जाता; हम देहधारी हैं या नहीं इसे जब याद करते हैं तब

मुश्किलसे जान पाते हैं; हमें क्या करना है, यह किसीसे जाना नहीं जा सकता; हम सभी पदार्थोंसे उदास हो जानेसे चाहे जैसे वर्तन करते हैं, व्रत नियमोंका कोई नियम नहीं रखा; जात-पाँतका कोई प्रसंग नहीं है; हमसे विमुख जगतमें किसीको नहीं माना; हमारे सन्मुख ऐसे सत्संगी नहीं मिलनेसे खेद रहा करता है, संपत्ति पूर्ण है इसलिये संपत्तिकी इच्छा नहीं है; अनुभूत शब्दादि विषय स्मृतिमें आनेसे-अथवा ईश्वरेच्छासे उनकी इच्छा नहीं रही है; अपनी इच्छासे थोड़ी ही प्रवृत्ति की जाती है; हरि इच्छित क्रम जैसे चलाता है वैसे चलते हैं; हृदय प्रायः शून्य जैसा हो गया है; पाँचों इन्द्रियाँ शून्यरूपसे प्रवृत्त होती रहती हैं। नय, प्रमाण इत्यादि शास्त्र भेद याद नहीं आते; कुछ पढ़ते हुए चित्त स्थिर नहीं रहता; खानेकी, पीनेकी, बैठने की, सोनेकी, चलनेकी और बोलनेकी वृत्तियाँ अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करती रहती हैं; मन अपने अधीन है या नहीं, इसका यथायोग्य भान नहीं रहा। इस प्रकार सर्वथा विचित्र उदासीनता आनेसे चाहे जैसी प्रवृत्ति की जाती है। एक प्रकारसे पूरा पागलपन है। एक प्रकारसे उस पागलपनको कुछ छिपाकर रखते हैं, और जितना छिपाकर रखा जाता है उतनी हानि है। योग्य प्रवृत्ति करते हैं या अयोग्य इसका कुछ हिसाब नहीं रखा। आदिपुरुषमें अखण्ड प्रेमके सिवाय दूसरे मोक्षादि पदार्थोंकी आकांक्षाका भंग हो गया है। इतना सब होते हुए भी मनमानी उदासीनता नहीं है, ऐसा मानते हैं। अखण्ड प्रेमखुमारी जैसी प्रवाहित होनी चाहिये वैसी प्रवाहित नहीं होती, ऐसा समझते हैं। इतनी अधिक उदासीनता होने पर भी व्यापार करते हैं, लेते हैं, देते हैं, लिखते हैं, पढ़ते हैं, सम्भालते हैं और खिन्न होते हैं; और फिर हँसते हैं - जिसका ठिकाना नहीं ऐसी हमारी दशा है।’

परमकृपालुदेवकी दशा वर्तमानमें कैसी वर्तती है, यह जाननेकी इच्छा श्री सौभाग्यभाईको रहती है, इसलिए इस पत्र में संक्षेपमें स्वयंने लिख दी है। उक्त लेखनीमें आभ्यंतर दशाकी रोचक अभिव्यक्तिका दर्शन होता है।

उन्हें पुराणोंमें सराहनीय परम पदार्थ, गुण निधान, निजस्वरूपकी महिमाके अलावा कुछ सुहाता नहीं या रुचता नहीं, अतः कुछ भी प्राप्त करनेकी इच्छा सहजरूपसे नहीं होती। चलते व्यवहरमें असावधानी-अजागृतिरूप बेभानपना है, समस्त जगतके प्रति दुर्लक्ष है। इतना ही नहीं परन्तु स्वयंको कौन अनुकूल है या कौन प्रतिकूल है इसकी खबर भी स्वयं नहीं रख पाते हैं। (सामान्य मनुष्यको कुदको कौन अनुकूल-प्रतिकूल है इसका लक्ष्य छूट नहीं सकता। मिथ्यात्वके शल्यवश ऐसा लक्ष्य रहा करता है। परन्तु शल्यरहित महात्माएं इससे पर होते हैं।) कृपालुदेव इस वक्त आत्माकी अत्यंत मस्तीमें विचरते हैं और समीपमें देहका अस्तित्व है या नहीं इसका भी विस्मरण हो जाता है। बहुत मुश्किलसे याद

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-६ पर)

